VRI Series No. 118

धर्म दर्शन

सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास,
धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२ ४०३,
महाराष्ट्र, भारत

विपश्यनाः एक परिचय

श्री गोयन्काजी ने म्यंमा के महान विपश्यना आचार्य सयाजी ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन १९५५ में 'विपश्यना' की साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन १९६९ में भारत आये। व्यापार-धंधे से सर्वथा अवकाश ग्रहण कर भारत के विभिन्न स्थानों पर **विपश्यना** साधना-विधि के दस दिवसीय शिविर लगाते रहे। सन १९७६ में प्रमुख विपश्यना केंद्र 'धम्मगिरि' की स्थापना के पश्चात अब तक पूरे विश्व में लगभग ५० विपश्यना केंद्र स्थापित हो चुके हैं तथा अन्य नए-नए केंद्र खुलते चले जा रहे हैं, जहां साधकों के लिए निःशुल्क निवास तथा भोजनादि की स्थाई व्यवस्था रहती है। विपश्यना सिखाने का सारा खर्च कृतज्ञ साधकों के दान पर निर्भर होता है। शिविरों का संचालन पूज्य गोयन्काजी तथा उनके द्वारा नियुक्त विश्व भर के लगभग ४०० से अधिक सहायक आचार्यों द्वारा किया जाता है। शिविर-काल के दौरान साधकों को बाहरी संपर्क से दूर, केंद्रों पर ही रहना अनिवार्य होता है।

भगवान गौतम बुद्ध द्वारा गवेषित 'विपश्यना' विद्या सर्वथा संप्रदायहीन एक प्रयोग प्रधान विधा है जिसमें अपने भीतर की सच्चाई का दर्शन करते हुए अपने मन को निर्मल बनाना तथा ऋत यानी प्रकृति के नियम के अनुसार आचरण करने का अभ्यास किया जाता है। इसी को धर्म कहते हैं। कालांतर में हम **धर्म** शब्द का सही अर्थ भूल गये और संप्रदाय को ही धर्म मानने लगे। आज जबकि धर्म के नाम पर चारों ओर इतनी अराजकता फैली हुई है, यह सांप्रदायिकता-विहीन विद्या घोर अंधकार में प्रकाश-स्तंभ सदृश है।

ध्यान की यह विद्या सीखने के लिए हर संप्रदाय के लोग – चाहे वे हिंदू हों या मुस्लिम; जैन, ईसाई, बौद्ध हों या सिक्ख – सभी आते हैं। बच्चों से लेकर वृद्ध बुजुर्गों तक सब उम्र के लोग आते हैं। बहुत ऊंची शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी आते हैं तो दूसरी ओर बिल्कुल निरक्षर अनपढ़ लोग भी आते हैं। अत्यंत धन-संपन्न भी आते हैं और बिल्कुल धनहीन भी। पुरुष-नारी तथा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापार-उद्योगों के संचालक सभी आते हैं। किसी भी विपश्यना शिविर में समाज के हर वर्ग का यह अनूठा संगम आसानी से देखा जा सकता है। इतनी विविधताओं के होते हुए भी सभी लोग लाभान्वित होते हैं।

पूज्य श्री गोयन्काजी का यह लेख अधिक से अधिक लोगों को धर्म-मार्ग पर चल सकने के लिए प्रेरणा प्रदायक सिद्ध हो, यही मंगल भावना है।

विपश्यना विशोधन विन्यास.

मूल्यः रु. १/-
प्रकाशक :
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२४०३, जिला- नाशिक, महाराष्ट्र, भारत
फोनः ०२५५३- २४४०७६, २४४०८६, २४४३०२ फैक्सः ०२५५३- २४४१७६.

धर्म-दर्शन

धर्म-दर्शन माने सत्य-दर्शन। यहां दर्शन का अर्थ न फिलॉस्फी है, न तत्त्व-विवेचन है, न किसी रूप-आकृति को देखना ही। यहां दर्शन का अर्थ है प्रत्यक्ष सत्य की स्वानुभूति। जीवन-जगत की सच्चाइयों को, प्रकृति के सर्वव्यापी विधान को प्रत्यक्षानुभूति द्वारा जानना ही धर्म-दर्शन है, सत्य-दर्शन है।

धर्म दुखों से छुटकारा पाने के लिए है और दर्शन है इसका वैज्ञानिक अभ्यास। प्रकृति के वे नियम जो हम पर हर क्षण लागू होते हैं, जिनका हमसे सीधा संबंध है उनको जानना, समझना, स्वीकारना और अपने आपको उनके अनुकूल ढालना, यही धर्मदर्शन का उद्देश्य है। दर्शन के अभ्यास द्वारा हम इसमें जितने-जितने पकते हैं, उतने-उतने धर्म में प्रतिष्ठित होते हैं, सुख-शांति के सच्चे अधिकारी होते हैं। धर्म-दर्शन का अभ्यास हमारे आध्यात्मिक उत्थान का सोपान-पथ है।

प्रकृति के वे नियम जिनका हमारे दुखों से और दुख-विमोचन से, हमारे बंधनों से और बंधन-विमुक्ति से सीधा संबंध है, उन्हें जानना और जान कर उनका अपने भले के लिए उपयोग करना ही धर्म है। जो दुखों का कारण है उसका निवारण करना और जो दुख-विमुक्ति का उपाय है उसको धारण करना यही सर्वव्यापी विधान से समरस करानेवाला आत्महित व सर्वहितकारी धर्म है। प्रकृति का कारण-कार्यवाला विधान सब पर लागू होता है। यह विधान न किसी पर कोप करता है न कृपा। कुदरत किसी का लिहाज नहीं करती। जो कानून तोड़ता है वह दंडित होता है, जो पालता है वह पुरस्कृत। अग्नि का धर्म जलाना है, यह प्रकृति का विधान है। हम अपनी नासमझी से अग्नि का दुरुपयोग करते हैं तो अपनी तथा औरों की हानि करते हैं और सदुपयोग करते हैं तो उसका भरपूर लाभ उठाते हैं। हमारे दुख व दुख-निरोध, हमारी नासमझी और समझदारी पर निर्भर करते हैं। निर्गुण, निराकार, व्यक्तित्व-विहीन, सर्वव्यापी, अनंत विश्व-विधान यानी विश्व-धर्म में किसी के प्रति कोई पक्षपात का भाव है ही नहीं। यह विधान सब पर समानरूप से लागू होता है। जो इसमें समरस हुआ, वही दुख-मुक्त हुआ। जितना-जितना समरस हुआ, उतना-उतना दुख-मुक्त हुआ। जब तक हम इस सच्चाई को ठीक-ठीक समझते नहीं तब तक भटकते हैं और अपनी हानि करते हैं। ठीक-ठीक समझ लें तो भटकना छूट जाय। विधान यानी धर्म पालने के प्रयास में लग जायँ, ताकि अज्ञानवश विधान-विरुद्ध कर्मों के आचरण से जो कष्ट उठा रहे हैं उनसे छुटकारा पा लें।

मोटे-मोटे तौर पर खान-पान, रहन-सहन से संबंध रखने वाले कुदरत के जो कानून-कायदे हैं, उन्हें समझ कर और उनके अनुसार चल कर हम शरीर से स्वस्थ रहते हैं। ठीक वैसे ही सूक्ष्मतर स्तरों पर जो कानून हैं उन्हें जान-समझ कर और उनका पालन करके हम आंतरिक सुख-शांति हासिल कर सकते हैं।

रोग का कारण नहीं जानेंगे तो उसका निवारण नहीं कर पायेंगे। कहीं और ही जा उलझेंगे जिनका रोग से दूर-परे का भी संबंध नहीं। यही अज्ञान है जो कि हमें रोग-मुक्त नहीं होने देता। रोग का सही कारण मालूम हो जाय और उस कारण के निवारण में लग जायँ तो रोग-मुक्त होने में क्या संशय रहे।

जब मानवीय ज्ञान और प्रतिभा अपनी शैशव अवस्था में थी तो विस्मयविभोर मानव, प्रकृति के हर स्वरूप को रहस्यगुंफित ही देखता था। उसके सौम्य स्वरूप से मुग्ध हो उठता था और प्रचंड स्वरूप से भयभीत। सही कारणों को न जानने की उस अवस्था में भयभीत मानव ने कल्पना के सहारे किसी अदृश्य देव के प्रकोप को प्रकृति की विनाशलीला का कारण समझा और अपनी सुरक्षा हेतु उसकी प्रसन्नता का याचक बना, उसकी प्रशंसा में गीत गाए, उसका पूजन-अर्चन किया, उसे अन्न-बलि ही नहीं, बल्कि निरीह-निरपराध पशुओं और मनुष्यों तक की बलि चढ़ा कर धरती को रक्त-रंजित किया। लेकिन जब सही कारण ही नहीं समझा तो रोग का इलाज कैसे होता? जिन थोड़े से मनुष्यों ने इन अंधविश्वासों की अवहेलना की और सच्चाई की खोज की, उन्हें अपने श्रम का उचित फल मिला। उन्होंने प्रकृति की सच्चाइयों के बहुत से रहस्य खोज निकाले। प्लेग, हैजा, चेचक जैसी महामारियों के सही कारण मालूम किये। मेधावी मानव ने इन रोगों के उन्मूलन में अपनी सारी शक्ति लगा दी। अकाल और बाढ़ देख कर असहाय हो हाथ जोड़ने के बजाय उसने अपनी बुद्धि लगायी और पुरुषार्थ जगाया। नदियों पर बांध बांधे गये। सत्य की खोज करने वाले इन मानव मनीषियों ने इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में अंधविश्वास की जड़ें खोदीं और मानव जाति को सुख-साधन-समृद्ध करने में लगे रहे। स्तुत्य है मानव का यह सत्यशोधक अभियान जो कि अब अंतरिक्ष मापने के लिए अपना वामन कदम बढ़ा रहा है।

परंतु इस बाह्य अन्वेषण से कहीं अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण रहा अपने आंतरिक अंतरिक्ष का अन्वेषण, अपने आप से संबंध रखने वाली निसर्ग की सच्चाइयों की खोज। वे सच्चाइयां जिनकी वजह से हम दुख-संतप्त हो जाते हैं और वे जिनकी वजह से हम दुख-मुक्त हो सकते हैं। इनको न जानने की वजह से अपने दैनिक जीवन की कठिनाइयों का कारण इन देवी-देवताओं और जगदीश्वरों की रुष्टि पर, और निवारण उनकी तुष्टि पर आरोपित करने लगे। और इसीलिए जब-जब छोटा या बड़ा दुख आया तो अपनी अबोध और भयभीत मनःस्थिति में हम उनकी मनौती मनाने लगे, उन्हें भेंट चढ़ाने लगे, उनके स्थानों की यात्रा पर जाने लगे, उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसाओं के स्तवन पाठ करने लगे। इन मनःकल्पित विधाताओं को प्रसन्न करने के लिए अनगिनत कर्मकांडों का सृजन और पालन करने लगे।

परंतु मानव-जाति का प्रबुद्ध वर्ग इस आंतरिक सत्य की खोज में लगा रहा। अनेक युगों में ऐसे अनेक ऋषि, मुनि, संत, ज्ञानी, बुद्ध, जिन हुए जिन्होंने अंतर के अंतरिक्ष की खोज कर करके यह सिद्ध किया कि हमारे दुखों का मूल कारण और उसके उन्मूलन का उपाय हमारे भीतर ही है, कहीं बाहर नहीं। उन्होंने देखा कि इस चित्तधारा पर जब क्रोध, ईर्ष्या, भय, वासना, मात्सर्य आदि विकारों की विकृति आती है तो हम दुख-संतप्त हो उठते हैं और यदि ये विकार दूर हो जायँ तो दुख से विमुक्त हो जाते हैं। उन्होंने खोजा कि आखिर ये विकार भी क्यों पैदा होते हैं? और पाया कि समस्त विकारों की जननी तृष्णा है। प्रिय को प्राप्त करने की तृष्णा, अप्रिय को दूर हटाने की तृष्णा। भीतर ही भीतर कोई प्रिय-सुखद संवेदना जागृत हुई कि राग-रूपी और कोई अप्रिय दुखद संवेदना हुई कि द्वेषरूपी तृष्णा जागी। खोज जारी रही और उन्होंने जानना चाहा कि ये प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुखद संवेदनाएं आखिर क्यों जागती हैं? तो उन्होंने देखा कि जब-जब आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छह इंद्रियों का अपने विषयों – रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्शव्य और चिंतन से संस्पर्श-संघात होता है, तब-तब भीतर ही भीतर शरीर और चित्त-स्कंध पर विभिन्न प्रकार की अनगिनित सूक्ष्म तरंगें पैदा होती हैं और अपने पूर्व संस्कारों व अनुभूतियों के आधार पर हम उन्हें प्रिय या अप्रिय की संज्ञा देते हैं।

उन्होंने यह भी देखा कि जब आंख, कान, नाक, जीभ पर किसी विषय का कोई स्पर्श नहीं हो रहा हो और परिणामतः संस्पर्शजन्य संवेदना नहीं हो रही हो तो भी शरीर और चेतना के स्तर पर तो जब तक जीवित हैं, तब तक प्रतिक्षण यह स्पर्श-संवेदनाएं होती ही रहती हैं और इन्हें प्रिय-अप्रिय मान कर हम राग अथवा द्वेष की प्रतिक्रिया करते ही रहते हैं। और उन्होंने यह भी देखा कि यह सारा का सारा प्रपंच अंतर्मन के उस स्तर पर चलता रहता है जिस स्तर पर कि हमें होश ही नहीं रहता। यानी हमें पता ही नहीं चलता कि कब स्पर्श हुआ? उसके परिणामस्वरूप कब संवेदना जागी और उसकी प्रतिक्रिया करते हुए कब हम राग-द्वेष के स्रोत में पड़ गये? कब तनाव-खिंचाव की गांठें बांधने लगे और कब दुखों का ढेर लगाने लगे? उन्होंने देखा कि ऊपर-ऊपर तथाकथित होश बने रहने पर भी भीतर ही भीतर बेहोशी, अज्ञान, अविद्या, मोह के माहौल में हम इस चित्तधारा में प्रतिक्षण अनजाने ही राग-द्वेष का मैल प्रवाहित करते रहते हैं। वैसे ही जैसे नासूर में से पीप का आस्रव सतत बहता रहता है। इसी कारण दुख-निमग्न हुए रहते हैं।

शोध जारी रही। उन्होंने देखा कि जिस-जिस क्षण अंतर्मन की उन गहराइयों तक जागरूक रहते हैं, अप्रमत्त रहते हैं, अज्ञान, अविद्या और मोह से मुक्त रहते हैं, इस अनित्य प्रवाह को निर्लिप्त अनासक्त भाव से देखते रहते हैं उस-उस क्षण चित्तधारा पर नया राग नहीं जागता, नया द्वेष नहीं जागता। परिणामस्वरूप पुराने आस्रव क्षीण होते हैं, पूर्व संचित मैल छँटता है। उन्होंने देखा कि बार-बार की समतामयी जागरूकता के अभ्यास से चित्तधारा निर्मल हुई जाती है और जितनी-जितनी निर्मल होती है उतनी-उतनी सद्गुणों से स्वतः संपन्न होती जाती है। जब नितांत निर्मल हो जाती है तो सर्वथा सद्गुण संपन्न हो जाती है।

इस प्रकार स्वानुभूतियों के बल पर उन सत्यशोधकों ने देखा कि रोग का मूलभूत कारण और उसके निवारण का उपाय क्या है? निसर्ग ने अपने सारे राज, रहस्य उनके सामने खोल कर रख दिये। उन्होंने देखा कि सत्यशोधन के इस प्रक्रम में उनकी अपनी चित्तधारा आस्रवों से, मैल से मुक्त हो गयी है। उन्होंने पाया कि जो-जो व्यक्ति इस अंतर्निरीक्षण और आत्मदर्शन के प्रक्रम को अपनाता है, वह-वह निर्मल-चित्त होकर दुख-विमुक्त हो जाता है। सत्य-शोधन का यह प्रत्यक्ष लाभ मानव जाति की बहुत बड़ी उपलब्धि रही।

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि जैसा बाह्य भौतिक जगत के वैज्ञानिकों की खोज का लाभ उठाते हुए हम उनके द्वारा किये शोध प्रयोगों में से स्वयं नहीं गुजरते, हमें उनकी उपलब्धियों का सीधे लाभ मिलने लगता है, वैसे ही इस आंतरिक चैतसिक जगत की खोज का लाभ हमें स्वतः क्यों न मिले? हम उनके द्वारा खोजी गयी सच्चाई को मान लें। उसमें श्रद्धा जगा लें। बस, काम पूरा हुआ। हममें से प्रत्येक व्यक्ति उस शोध के प्रक्रम में से स्वयं क्यों गुजरे? धर्म-दर्शन का अभ्यास स्वयं क्यों करे? उत्तर यही है कि यह शोध प्रक्रम ही तो उनकी खोज थी। यही तो हमारे रोग का इलाज है। जब तक कोई स्वयं आत्मनिरीक्षण न करे, तब तक दुख-विमुक्त नहीं हो सकता। अपने चित्त के विकारों का स्वयं साक्षात्कार करके ही उनका उन्मूलन किया जा सकता है। यही तो औषधि है जिसका सेवन करना ही होता है। जैसे किसी चिकित्साजगत के वैज्ञानिक ने खोज निकाला कि मलेरिया के रोग का अमुक कारण है और उस कारण का इलाज कुनैन की दवा है। अब कुनैन की दवा चाहे कितनी गुणकारी हो, उसे रोगी स्वयं सेवन करेगा तो ही मलेरिया से मुक्त होगा। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की विधियों में से भटकते हुए इन श्रेयार्थी साधकों ने धर्मदर्शन की दवा खोज निकाली जो कि हजार रामबाण औषधि हो तो भी इसका सेवन तो अनिवार्य है ही। उन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त महापुरुषों की तो

इतनी ही कृपा है कि उन्होंने रास्ता ढूंढ दिया। उस पर चलना तो हमें होगा ही। कोई अपने कंधे पर चढ़ा कर मंजिल तक पहुँचाने नहीं आयगा। 'अपनी मुक्ति अपने हाथ' की सच्चाई को मानने का अर्थ अहंकारी बनना नहीं, बल्कि विनीत भाव से अपनी जिम्मेदारी को स्वीकार करना है।

साधको! मैं अपने तथा अपने परिचित हजारों साधकों के अनुभव के आधार पर कहता हूं कि प्रक्रिया के अभ्यास-मार्ग में कहीं कोई अलौकिक चमत्कार नहीं है। जो उपलब्धि होती है वह स्वयं अपने कठिन परिश्रम से ही होती है। मेरे पास मेरा मैला मानसिक आंचल है। सौभाग्य से यह विधि साबुन स्वरूप प्राप्त हुई। मैंने इस साबुन का जितना प्रयोग किया, उतना ही मैल धुला, अधिक नहीं। जितनी मात्रा में मैल बचे हैं, उतनी मात्रा में दुख है ही। काम कुछ न करूं अथवा जरा-सा ही करूं और मैल सारे धुल जायँ, ऐसा कोई करिश्मा नहीं होता। वस्तुतः यह तो जीवन भर का काम है। सारे जीवन अपने आपके प्रति सजग सचेत रहना ही होगा। अप्रमत्त रहना ही होगा। सचमुच काम कठिन है। पर दूसरा कोई रास्ता भी तो नहीं।

लेकिन हमारा भोलापन है कि हम कोई करिश्मे का रास्ता ढूंढ़ते हैं। ऐसा करिश्मा जिसकी वजह से हमें कोई कठिन श्रम न करना पड़े और सफलता भी मिल जाय। ऐसी अवस्था में हम फिर कल्पना-लोक की उड़ाने भरने लगते हैं। इतने मनीषियों द्वारा परम सत्य की खोज हो जाने के बाद यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि हमारे दुखों का कारण कोई देव या जगदीश्वर नहीं, हमारे अपने संचित कर्म-संस्कार ही हैं। परंतु फिर आशा बांधने लगते हैं कि हमारे द्वारा हजार दूषित कर्म करने के बावजूद भी कोई ऐसा सर्वशक्तिमान और करुणासागर है जिसे किसी प्रकार प्रसन्न कर लें तो वह हमारे सारे दुखों को दूर कर देगा। इस आशा में फिर खुशामदें, भेंट, चढ़ावे आदि का क्रम चल पड़ता है। हम नहीं जानते कि हम कर क्या रहे हैं? अंधभक्ति के भावावेश में हमने जिस भगवान का निर्माण किया उस बेचारे की ही कैसी मट्टीपलीद कर रहें हैं? कैसा है यह भगवान जो अपने मान-सम्मान से प्रसन्न होता है? अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा-प्रशस्तियों से फूल कर कुप्पा हो जाता है। जी हजूरी करने वाले खुशामदी लोगों पर कृपादृष्टि रखता है। भेंट चढ़ाने वालों पर अपनी महर बरसाता है। अपने प्रशंसक पर प्रसन्न होकर उसके काले को भी सफेद कर देता है। प्रवंचक अपराधी को निरपराधी के समकक्ष बैठा देता है। अहम् का पुतला ऐसा कि कोई भूले-चूके भी उसका नाम ले ले तो उसे झट तार देने पर तत्पर हो जाता है। ऐसी आसक्ति है उसे अपने नाम से। और ऐसी ही आसक्ति है उसे अपने संप्रदाय से! जिस-जिस संप्रदाय का भगवान है, उस-उस संप्रदाय के व्यक्ति का पक्ष लेता है और अलग-अलग संप्रदायों के हमने अलग-अलग पक्षपाती भगवान खड़े कर लिए। अरे, कोई सीमा है हमारे भोलेपन की भी? क्या सचमुच इस विशाल विश्व की व्यवस्था ऐसे किसी शासक या शासकों के हाथ में है जो पक्षपाती हैं, दंभी हैं, निरंकुश हैं, कानून-कायदों को, धर्म-विधान को ठुकरा कर मनमानी करने वाले हैं? दुर्गुण ही दुर्गुण के भंडार हैं। यदि मान्यता ही करनी थी तो ऐसे दुर्गुणी की जगह किसी सद्गुण-संपन्न देवता की करते ताकि उसके गुणों का चिंतन कर, उससे प्रेरणा पाकर स्वयं सर्व-गुणसंपन्न होने में तो लगते। कल्याण तो सधता। परंतु अपने भोलेपन में हम अपना ही अमंगल साधने लगे। चित्त-विशुद्धि से ही दुख-विमुक्ति है, इस विधान को स्वीकारते हुए भी चित्त विशुद्ध हो, न हो, इस विधान के परे किसी निरंकुश विधायक को प्रशंसाओं से प्रसन्न करने के भोलेपन में जुट गये।

धर्म-दर्शन का अभ्यास हमें ऐसी भूलों से बाहर निकालता है। दुख का कारण चित्त के दूषण हैं और चित्त के इन दूषणों से विमुक्त हो जाना ही दुख-विमुक्ति है। निसर्ग का यह अटल नियम-विधान जितना स्पष्ट होता चला जाय, उतना चित्त-विशुद्धि को ही एकमात्र लक्ष्य मान कर हम धर्मपथ पर

आरूढ़ हो जायँ। फिर तो विधान पालन ही हमारे लिए प्रमुख हो जाय, और सब गौण। विधान ही विधायक हो जाय, नियम ही नियामक हो जाय, सत्य ही नारायण हो जाय, धर्म ही ईश्वर हो जाय। विधान, नियम, सत्य, धर्म को ठुकराकर इनसे अलग किसी नारायण को प्रसन्न करने की बात मन में आये ही नहीं। धर्म छूटने में अमंगल ही अमंगल सूझे और धर्म-धारण में मंगल ही मंगल।

सत्य को ही ईश्वर मान कर उसके प्रति सविवेक श्रद्धा रखते हुए जब हम धर्म-दर्शन का अभ्यास करते हैं तो सचमुच जितना-जितना धर्मदर्शन यानी सत्यदर्शन होता है, उतने-उतने दुखविमुक्त हो जाते हैं। उस अवस्था में अनंत प्रकृति की सूक्ष्मतर सच्चाइयों के साथ समरस होने लगते हैं और प्रकृति की यह सच्चाई अपने ही नियमों से बंधी होने के कारण स्वतः हमारी रक्षा करने लगती है। धारण करें तो धर्म स्वतः हमारी रक्षा करता है। इसके लिए उसकी अथवा किसी की भी खुशामद नहीं करनी पड़ती। यह धर्मनियामकता है। जब हमारा मन दुर्गुणों में उलझता है और दूषित वृत्तियों की तरंगें पैदा करता है तो समस्त विश्व में व्याप्त वैसी दूषित तरंगों के साथ समरस होकर हमारे दुर्गुणों को और फलतः दुखों को बढ़ाता है। ठीक इसी प्रकार जब हमारा मन दुर्गुणों से मुक्त होकर निर्मल होता है, सद्गुणों से भरता है, सद्वृत्तियों की तरंगें प्रजनन करने लगता है तो अनंत विश्व में समायी हुई दृश्य-अदृश्य प्राणियों की, जो भी सात्विक देव-ब्रह्म हैं उनकी शुद्ध धर्ममयी सात्विक तरंगें हमसे आ मिलती हैं, हमें बल प्रदान करती हैं और हमारा सुख-संवर्धन करती हैं, संरक्षण करती हैं। यही नियम है, विधान है, जो प्रत्यक्ष अनुभूत किया जा सकता है।

किसी भी देश का राज्य-विधान उस देश का धर्म होता है –वैसे ही यह सार्वदेशिक ,सार्वजनीन, सार्वकालिक विश्व-विधान, विश्व-धर्म है। जब उस देश का नागरिक उस राज्य-विधान के अनुसार जीवन-यापन करता है, विधान को तोड़ता नहीं, तो उसे विधायक के कुपित होने का कोई भय नहीं होता। दूसरी ओर बिना प्रार्थना-पुकार के उसकी सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी राज्य की ही होती है। परंतु जो विधान को, राज्य के कानून को कदम-कदम पर तोड़ता है और विधायक या शासक को खुश रखने के लिए उसकी खुशामदें करता है, उसे फूल-पत्तियां चढ़ाता है तो ऐसा व्यक्ति न केवल अपनी बल्कि समस्त देश और समाज की सुख-शांति के लिए, व्यवस्था के लिए खतरनाक साबित होता है। जिस देश के लोग राज्य के कानून का सजग होकर पालन करें, उस देश में, समाज में सुख-शांति विराजेगी ही। इसी प्रकार इस विशाल विश्व-राज्य में भी विश्व-विधानरूपी धर्म-पालन के अतिरिक्त सुख-शांति हासिल करने का और क्या साधन हो सकता है?

इसीलिए न केवल अपनी सुख-शांति के लिए, बल्कि सबकी सुख-शांति के लिए धर्म धारण करें। विश्व-विधान के अनुकूल जीवन जीएं और अटूट निष्ठा के साथ धर्मदर्शन के अभ्यास द्वारा चित्त को विकार-विहीन करने में लगें। इस अभ्यास में जो भी बाधाएं आयें, वे कितनी ही प्रिय लगने वाली क्यों न हों, वे हमारे मत-मतांतरों की रूढ़ मान्यताओं के कितनी ही अनुकूल क्यों न हों, उन्हें निर्ममतापूर्वक दूर करके "एकै साधे सब सधे" वाले अनन्यभाव से चित्त-विशुद्धि का अनथक प्रयत्न करते ही रहें, करते ही रहें। अनंत के कण-कण में समाए हुए मंगलमय परम सत्य का यही विधान है।